



एक सवाल

हिमालय ऊँचा या बछेन्द्रीपाल?

सवाल बिलकुल सीधा है- हिमालय जैसी अपराजेय लगने वाली ताकत (विश्व-व्यवस्था या उससे उत्पन्न जीवन-स्थितियाँ) ज्यादा बड़ी, ऊँची प्रभावी और स्वीकार्य हैं या कि उसे फतह करनेवाली ताकत? अपराजेयता के मिथक के रूप में हिमालय का विरुद्ध बहुत पुराना है- लेकिन 20 वीं सदी के पर्वतारोहियों ने इस मिथक को तोड़ दिया। हिमालय के नजदीक के एक पहाड़ी कवि ने अपराजेय समझी जानेवाली चीजों के प्रतीक के बतौर हिमालय और उनपर भी विजय प्राप्त करने की प्रतिज्ञा के प्रतीक के रूप में बछेन्द्रीपाल को चुना तो क्या आश्चर्य? हिमालय फतह तो बहुतों ने किया, लेकिन प्रतीक के बतौर कवि ने चुना सामान्य घर की पहाड़ी युवती बछेन्द्रीपाल को। प्रतीक भी जब अपनी मिट्टी और अनुभव किए गए परिवेश से आते हैं, तो विश्वसनीय होते हैं, कवि की प्रतिबद्धता का प्रमाण-पत्र होते हैं (खेल दुनिया से लिए पात्रों-प्रतीकों में शैलेय की “बछेन्द्रीपाल” के बगल में कोई बैठ सकती है तो बस डँगवाल जी की “पी.टी. उषा”) कवि ने इस कविता में सवाल उठाया है और जवाब के लिए विकल्प भी सुझाया है। जवाब देना निर्णय लेना है। कवि चाहता है कि लोग निर्णय लें, परिस्थिति को नियति न मानें, बल्कि परिस्थिति को बदलने का निर्णय और विकल्प का चुनाव करें, खुद को सब्जेक्ट मानें, ऑब्जेक्ट नहीं, सवाल समकालीन कविता तक भी जाता है कि वह परिस्थितियों की विडम्बना उभारने तक महदूद रहेगी कि विकल्प का भी तसव्वुर रहेगी? कवि का विश्वास है कि परिस्थिति कैसी भी हो, उससे निकलने के रास्ते होते जरूर हैं। “रास्ता” शीर्षक कविता में यही बात यों आई है-

जहाँ कोई रास्ता नहीं हुआ करता
वहाँ भी होती है
एक अदद ज़मीन

एक अदद ज़मीन
जहाँ भी हो
रास्ता बन सकता है।

ज़मीन और जड़ें

ज़मीन और जड़ें ही कवि की दृष्टि में वे स्रोत हैं जहाँ से निराशा टूटती है और रास्ते सूझते हैं। कवि के लिए नव-साम्राज्यवाद की विभीषिका से भी ज्यादा चिन्ताजनक है प्रतिरोध का न हो पाना। इसका कारण वह पस्तहिम्मती और विकल्पहीनता की वैचारिक स्थिति को मानता है। समाधान उसकी नज़र में यह है कि अपनी मिट्टी की ताकत पहचानी जाए और अपनी ही जड़ों, को खँगाला जाए। भूमंडलीकरण सतत विस्थापन है- भौतिक भी और आत्मिक भी- अपनी जड़ों से, अपने यर्थाथ परिवेश से, अपनी विवेक-बुद्धि,

सपनों और अनुभवसिद्ध ज्ञान से। यह विस्थापन एक अपार्थिव, अभासी यथार्थ रचना है हमारे चारों ओर। सट्टा और दलाल पूँजी की मरीचिका बढ़ते हुए मध्यवर्ग और उसके बुद्धिजीवियों की विचारधारा बन जाती है। इतना ही नहीं अनेकानेक तरीकों से यह विचार, मसलन भारतीय परिवेश में जाति और धर्म की तिकड़मों के जरिए गरीबों में संक्रमित होता है- प्रतिरोध की चेतना को विकलांग बनाता हुआ। इसीलिए कवि ज़मीन और जड़ों से जुड़ाव को इतना महत्व देता है। यहाँ कोई पूछ सकता है कि इसमें नया क्या है? क्या यह वही पुराना ग्रासरूटिज़्म नहीं है? जवाब कविता में नहीं राजनीति में है। कविता तो उस बिन्दु पर रची गयी है जहाँ जीवन के बुनियादी सच का ही तिरस्कार है और इसीलिए उस बुनियादी सच का पुनराख्यान कविता बार-बार करेगी, नए संदर्भों में। अगर एक झूठ इतने क्रिएटिव तरीके से इतनी बार बोला गया हो कि सच लगने लगे, तो एक बुनियादी सच ही क्यों सिर्फ इसलिए न बोला जाए कि वह संपूर्ण नहीं, महज आवश्यक है। जड़ें जटिल होती हैं- शब्दशः, लिहाजा जड़ों के बारे में किसी भी वक्तव्य को सरलीकरण समझना अति-सरलीकरण होगा। कवि का कहना है-

पेड़
खड़े हैं
चूँकि
जमीन में
गड़े हैं (पेड़-1)

भूमंडलीकरण की आँधी में वही खड़ा है जो ज़मीन में गड़ा है। जड़ें जटिल हैं, इसीलिए पेड़ में भी वैविध्य है, विपुलता है, विविधता है-

सैकड़ों शाखाओं
हज़ारों पत्तियों
फूलों-फलों से
किस कदर
लदा हुआ
सधा हुआ है पेड़

ज़रूर इसकी
जड़ें
बहुत गहरी होंगी (पेड़-2)

जड़ों की गहराई और पेड़ की विपुल समृद्धि समानुपातिक हैं। क्या हो जो जड़ों में ही मट्टा डाल दिया गया हो, टर्मिनेटर बीजों से ही खेती हो हर जगह? इस संभावना की कल्पना करने वाले सवाल का जवाब यथार्थ की ज़मीन पर ही खड़ा होकर मिलेगा, अन्यत्र नहीं। क्या भूमंडलीकरण इतना समरूपीकरण कर चुका है? यदि हाँ, तो फिर ईराक, लैटिन अमरीका, नेपाल, ईरान, उत्तर कोरिया का संदेश क्या है? दादरी, कलिंगनगर, सिंगूर, नंदीग्राम का संदेश क्या है? कहाँ से ले रहे हैं ऊर्जा ये लोग, अगर अपनी जड़ों से नहीं? कौन सी संगठित ताकत या विचारधारा इनका नेतृत्व कर रही थी? क्या पढ़ेंगे हम अपने किसानों की

आत्महत्या में? याद आती है फैज़ की दो पंक्तियों की एक अनूदित नज़्म-

जवाँमदीं उसी रिफ़अत पे पहुँची

जहाँ से बुज़दिली ने जस्त की थी।

“रिफ़अत” का अर्थ है बुलंदी और “जस्त” का अर्थ है छलांग लगाना

इस नज़्म का उनवान है “एक चट्टान के लिए कल्बः” (कब्र पर लगा हुआ शिलापट्ट)

हम एक ऐसी परिस्थिति से बाबस्ता हैं जहाँ समाधान आसान नहीं। ज़मीन और जड़ों की बातें किसी को दकियानूस भी लग सकती हैं। लेकिन हिंदी में “जड़ पकड़ना” और “जड़ों की ओर वापस लौटना” दो मुहावरे हैं, जिनके अर्थ मुखलिफ हैं। एक का अर्थ मज़बूती हासिल करना है तो दूसरे का अर्थ अतीतजीवी, दकियानूस और बुनियादपरस्त होना है। एक भविष्योन्मुखी है तो दूसरा अतीतोन्मुखी। एक प्रतिरोध की तैयारी है, तो दूसरा पराजय का स्वीकार। इस संग्रह की कविताओं में जड़ों का आख्यान “जड़ पकड़ने” के अर्थ में है, “जड़ों की ओर वापस लौटने” के अर्थ में नहीं। ऐसा नहीं कि कवि को जड़ों की थामने की शक्ति को लेकर अंधविश्वास है, उसे कभी-कभी शंका भी होती ही है। लेकिन इस शंका का जवाब वह अनागत भविष्य के पास ही छोड़ता है-

सोचता हूँ

कभी कभी ही सही

आखिर

मिट्टी तक क्यों उखड़ जाती होगी अपनी ही जड़ों से

एक अनरोपे वृक्ष के सिवाय

भला

कौन दे पाएगा

इस सवाल का जवाब! (जवाब)

ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं जो यह मानते हैं कि अंग्रेज़ न आए होते तो भारत कभी भी आधुनिक नहीं बन सकता था। आखिर आधुनिक उद्योग, बाज़ार, सिंचाई, संचार, प्रशासन, शिक्षा, विनिमय के साधन, निजी संपत्ति, प्रेस, रेल, डाक, तार सभी कुछ तो वे ही लाए। हमारे पास क्या था भला? ऐसे लोग सिर्फ इतना ही जोड़ पाते कि वे कितना और क्या-क्या ले गए तो उन्हें समझ में यह तो आता ही कि हमारे पास क्या-क्या था, साथ ही यह भी कि जो वे दे गये उसे एक आज़ाद मुल्क उस कीमत के एक बटे करोड़ हिस्से से भी कम देकर पा लेता; उन करोड़ों इंसानी जिंदगियों की तो गिनती ही क्या जो बर्बर औपनिवेशिक जनसंहारों, उनके कुशासन और लूट से पैदा अकाल और भुखमरी की भेंट चढ़ गई। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण तो यह रहा कि आत्महीनता हमारा स्वभाव बन गयी जिसे आज़ादी के बाद सत्ताधारी वर्गों ने अपने विरुद्ध जनता की संभावित एकता के खतरे को ध्यान में रख और भी बढ़ाया। आत्महीनताका शून्य फर्जी आत्मगौरव के नायाब तरीकों से भरा गया-जाति, धर्म के काल्पनिक गौरव से लेकर क्रिकेटिय राष्ट्रवाद, भारतीय विश्वसुंदरी और खली की पहलवानी तक। जहाँ देशभक्ति इतनी सस्ती बना दी जाए कि कोई भी माफिया, लम्पट, अपराधी

महज मुशर्रफ को गाली देकर देशभक्ति का प्रमाण-पत्र पा ले, वहाँ आत्महीनता ही आत्मगौरव समझी जाए तो क्या आश्चर्य? ऐसे में कवि ज़मीन और जड़ों पर ही अंतिम भरोसा न करे तो फिर करे किस पर? आज भी ऐसे लोग मिल जाएंगे जो सड़े-गले भूमंडलीकरण और नव-साम्राज्यवाद से भारत में सामंती अवशेषों के खात्मों की उम्मीद बंधा रहे हैं। कभी यही उम्मीद औपनिवेशिक पूँजीवाद से भी पाली गई थी, अच्छे-अच्छे लोगों द्वारा भी। कवि शैलेय ने अपना पक्ष स्पष्ट करते हुए लिखा है-

एक प्रवचन
एक अमरीका
एक विश्वबैंक
एक आश्वासन
एक दया
आपस में लड़ते
एक गाँव से बदतर हैं। ("अपशकुन" शीर्षक कविता)

अमरीका और विश्वबैंक के साथ प्रवचन का जिक्र भूमंडलीकरण के चरित्र का बेहतर भाष्य रचता है, जहाँ सूचना और संचार क्रांति के जरिए हर टी.वी. चैनल पर भूत-प्रेत, देवी-देवता, ग्रहदशा, वास्तु, अपराध, सेक्स स्कैंडल और हर कोटि की सनसनी घर-घर की कहानी बनने पर आमदा हैं। कवि की उपरोक्त पंक्तियों के मेल में याद आती हैं 1857 के संदर्भ में लिखी रामविलास शर्मा की पंक्तियाँ- "विश्व मानवता की प्रगति के लिए ब्रिटिश साम्राज्य का नाश आवश्यक था या भारत के ग्राम समाजों का?" निश्चय ही ज़मीन और जड़ों की तर्कप्रणाली निर्विवाद नहीं क्योंकि जड़ों में भी ऐसा बहुत कुछ है, रहा आया है जो कि सड़ा-गला है। लेकिन क्या जड़ों से कटकर उसके सड़-गल गए अंशों को काटकर निकाला जा सकता है और क्या यह काम भी किसी और के जिम्मे छोड़ा जा सकता है? भारत को पूरी तरह चूसकर अंग्रेजों ने न तो सामंतवाद मिटाया और न जाति-प्रथा, उल्टे उन्हें अपने लिए उपयोगी पाया। क्या यही इस देश का ऐतिहासिक अनुभव नहीं? "हो सके तो प्लीज़" शीर्षक कविता के अंत में भी कवि का अनुरोध है-

बसंत के चहेतों!
अभी कई मौसम आने हैं
हो सके तो
जड़ों को
दो लोटा जल दे दो
प्लीज़

जड़ों को यह संग्रह कविता-दर-कविता तलाशता चलता है। जड़ों से उखड़ना इस दुनिया में कवि के लिए सबसे बड़ी त्रासदी है, जड़ पकड़ लेना सबसे बड़ा आश्वासन-

किन्तु
इस मोह की कसम

**हम बच्चों को अपने हाथ
कुछ इस तरह सौंपेंगे
कि
जैसे उनके क़दमों को जड़ें मिल गई हों (कसम)**

जाहिर है कि मज़दूर अपनी अगली पीढ़ी को अपने मेहनती हाथ ही नहीं सौंपेंगे, बल्कि जड़ पकड़ने का यानी संगठित ताकत बनने का हुनर भी सौंपेंगे ताकि उन्हें कोई हिला न सके आसानी से, ताकि ये अगली पीढ़ी उनकी तरह नसीब पर रोए नहीं, सलीब पर चढ़ने का मन न बनाए, मज़दूर यही क़सम खा रहे हैं।

जड़ें ज़मीन में ही हुआ करती हैं, लिहाजा कवि अपनी ज़मीन पर खड़े होने की सामर्थ्य को ही किसी भी प्रतिरोध या विकल्प की ज़रूरी शर्त मानता है-

**अपनी ज़मीन पर
खड़ा न हो पाना भी
डूबते जाने से कम नहीं होता (ज़मीन)**

ज़मीन और जड़ें अपने ही जातीय, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अनुभवों पर विश्वास, उन पर ही खड़ा होने और ताकत पाने का रूपक है। ज़मीन और जड़ों का इन कविताओं में जैसा आख्यान है, वह उस विचारधारा और संगठन-शक्ति का भी इशारा करता है जिसने अब तक इस विश्वास पर खड़ा होने का व्यवहार विकसित किया था। यही विश्वास खोकर हम विकल्पहीन और असहाय हुए हैं।

दृश्य से महत्वपूर्ण है दृष्टि

कवि ने अपनी ज़्यादातर कविताएं प्राकृतिक-रूपकों से बनाई हैं, लेकिन जैसा कि भूमिका लेखक ने “सलाम” और “पाँव” शीर्षक कविताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है- “वस्तुओं की दुनिया में भी इत्मीनान से और सहर्ष प्रवेश करती हैं।” कवि के लिए प्रकृति का परिवेश, पहाड़, झरने, पोखर, तालाब, पहाड़ी रास्ते, अभयारण्य, खेत, बादल और बिजली, जुगनू और चमगादड़ समय की कुछ खास सच्चाइयों के रूपक या प्रतीक बन जाते हैं। व्यक्तिगत अनुभवों की कविताओं में भी प्रकृति-बिम्ब कुछ इस तरह से आकार लेते हैं कि अनुभूति वैयक्तिक से कुछ अधिक बड़ी सच्चाइयों में रंग जाती है। “तुम्हारा जाना” शीर्षक कविता की आखिरी पंक्तियाँ हैं-

**गहरा होता है
अकेलापन
खालिस फीते से नहीं जाना जा सकता
किसी झील का धीरे-धीरे काँच होते जाना
किसी पेड़ का
धीरे-धीरे गाँठ होते जाना
किसी आबोहवा का
उसम होते जाना**

किसी तितली के परों से रंगों का उड़ता जाना...

किसी के जाने से पैदा हुआ अकेलापन जब ऐसे दृश्य-बिम्बों में उतारा जाता है, तब इन बिम्बों की अपनी पार्थिवता हमें उस अकेलेपन की गहराई ही महसूस नहीं कराती, बल्कि साथ ही साथ वह हमें प्रकृति का विनाश करने वाले “विकास” का दंश भी महसूस करा जाती है। विछोह का अकेलापन इन बिम्बों में ढलकर कथित विकास की मार से झीलों, पेड़ों और साफ हवा से वंचित हो रहे इंसान के अकेलेपन का भी अहसास सम्प्रेषित कर देता है।

संग्रह की एक अत्यंत मार्मिक कविता है- “पृथ्वी”। बीमार पति, बेरोज़गार बेटे, बुढ़ाती बेटियों, स्कूल जाने वाले बच्चे- सभी का ख्याल रखती, सभी को प्यार देती, सबकी सलामती के लिए प्रार्थना करती, व्रत रखती, खेत और जंगल में मेहनत कर सबके लिए जीने का सामान जुटाती, रात तक सबको खाना खिलाकर, सुलाकर, चादर उढाकर, सब के लिए सपने देखती ईजा (माँ) अथक धैर्य, जिजीविषा और अपने प्यारों के लिए लगातार चक्कर काटते, घूमते रहने के चलते कवि को पृथ्वी सदृश लगती है-

**पृथ्वी है ईजा
सूरज के चारों तरफ
हरदम-हरदम चक्कर लगाती हुई**

माँ का बिम्ब अन्यत्र भी कठिनतम परिस्थित में भी उत्सर्गमय जीवन जीने की दृष्टि के प्रसंग में आता है-

**बच्चे की कुशलता के लिए
एक माँ
सर्जरी तक आ जाती है
विहँसती हुई। (दृष्टि)**

माँ का जीवन उस लगाव के चलते ही चला करता है जो उसे अपने प्यारों से है। कवि इन प्रसंगों में एक जीवन-दृष्टि प्रस्तावित कर रहा है- वह यह कि जीवन कठिन क्षणों में भी जीने लायक बनता है सुविधाओं से नहीं, बल्कि लगाव से; एक ऐसा लगाव जो उत्सर्ग को भी जीवन-मूल्य बना देता है। यह दृष्टि दृश्य की भयावहता से आक्रांत नहीं होती। कवि का वक्तव्य है-

**दृश्य से महत्वपूर्ण है
दृष्टि**

हताश लोगों से जो सवाल कवि संग्रह की पहली ही कविता में पूछता है, उसमें भी यही आग्रह निहित है। यह दृष्टि या नज़र है जो जीवन जीने की ताकत पैदा करती है, वर्ना दृश्य तो कठिनाइयों के पहाड़ सरीखे हैं ही। यह दृष्टि अपनी ज़मीन, अपने लोगों, अपने परिवेश के प्रति लगाव और ज़िम्मेदारी से बनती है, जब त्याग में खुशी मिलने लगती है। अपना जीना दूसरों के लिए जीने का पर्याय बन जाता है। कहने को तो यह

सनातन सी लगने वाली सीख है, लेकिन वह जिस माहौल में दी जा रही है, जिस अन्धे दौर में उसे महज सीख नहीं बल्कि ज़रूरी अनुभव-सत्य के रूप में सामने लाया जा रहा है-उसी से उसकी नवीन अर्थवत्ता पैदा होती है। यह विश्व-पूँजी का वह पतनशील दौर है जिसमें व्यक्ति और छवियों की चकाचौंध के बीच कोई मानवीय-मूल्य दखल दे नहीं पा रहा- न लगाव, न ज़िम्मेदारी, न विवेक। लोग किसी “मास हिस्टीरिया” के उभार के अल्पकालिक दौर में ही सदियों के संबंध भूल जा रहे हों-सिर्फ इतनी नहीं है भयावहता, बल्कि ज़्यादा भयावह है इसे ही स्वाभाविक जीवन-पद्धति के बतौर मनवा लेने की विचारधारा जिसका सतत उत्पादन विश्व-पूँजी हर क्षण अनेकानेक रूपों में हमारे उपभोग के लिए कर रही है। योरपीय रिनैसाँ के मनीषियों ने फरमाया था “मैन इज़ दि मेज़र ऑफ़ ऑल थिंग्स”। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। पूँजी के उत्तर युग में ऐसी खुशफ़हमियों के अवशेष भी खत्म हुए। मनुष्य का जीवन पूँजी के निज़ाम की ज़रूरत भर महदूद हुआ, उसका होना अपने आप में कुछ नहीं। वह महज ह्यूमन रिसोर्स हुआ। “आपका काम” शीर्षक कविता इसी का बयान है-

उन्होंने देखा-
कि मैं अठारह का हो गया
उनके लिए मैं वोट बन गया

उन्होंने देखा-
कि मैं पढ़-लिख गया हूँ
उनके लिए मैं मुनीम बन गया

उन्होंने देखा-
कि साहस है मुझमें। बदन गठीला है।
उनके लिए मैं अंगरक्षक हो गया

उन्होंने देखा-
कि मैं भोला हूँ बहुत। भावुक भी
उन्होंने मेरे लिये भगवान थाप दिए।

भँवर खाता कुम्हार और रूई हो गये कपास के किसान

कवि शैलेय ने कविता में एक सादगी, एक साफ़गोई को उपलब्ध किया है। किसानों, मेहनतकशों के जीवन की विडम्बनाएँ सीधे और बुनियादी सवालों का लहज़ा अख़्तियार करती हैं-

जानना चाहता हूँ मगर मैं
कि सोना उगाने वाला यह किसान
सुनारों के यहाँ
आख़िर गिरवीं क्यों रहता है? (आख़िर)

कभी ताज़ुब होता है उसे यह देख कि पहाड़ तोड़ जिन्होंने बिछाई सड़कें, जिस पर पूरी रफ़्तार से

ज़माना दौड़ रहा है, उसका जीवन ठहर गया है-

ताजुब
किसी भी मंज़िल को
जो सबसे ही ज़्यादा पिछड़ते जा रहे हैं
वे ही हैं-
जिन्होंने बिछाई ये बेलौस सड़कें
जो आज भी उसी तरह खोद रहे पहाड़ (पहाड़-1)

कभी यह लहज़ा आत्मीय सी उलाहना या सीख सी शकल ले लेता है-

चाक को साधा कुम्हार ने
कुम्हार फिर भी वैसे का
वैसा ही
भँवर खाता हुआ...

कभी तो
पृथ्वी की लय समझ कुम्हार!
ये उजाला तेरी दुनिया में भी हो। (कुम्हार)

जब वसंत आया तो फूलों की खेती करने वाले किसानों के हाथों के तोते उड़ गए। लेकिन उनके आर्तनाद को सुनकर शोक का अनुष्टुप लिखने वाला आदि कवि कहाँ है?-

बाल्मीकि!
तुम कहाँ चले गए हो?

कपास के खेतों को देख सन्न रह जाना पड़ा। रजाई के भीतर भरी रूई उन्हीं खेतों से उपजे कपास से आई थी जिसने जाड़े को मार दिया था। लेकिन-

पर आज जब मैं
कपास के खेतों में गया
तो
काँप कर रह गया

कपास
उगाने वाले
रूई हो रहे थे... (आघात)

कपास उगाने वाले का रूई होते जाना शायद वैसा ही है, जैसा ये पंक्तियाँ लिखते समय शमशेर की

काव्येन्द्रियों ने महसूसा होगा-

धुआँ-धुआँ

सुलग रहा

गवालियर के मजूर का हृदय। (ये शाम है)

मेहनतकशों और किसानों के जीवन की विडम्बना से जुड़ाव की अनेक भंगिमाएं हैं शैलेय की कविताओं की- कभी बुनियादी सवाल उठाकर, कभी ताज्जुब खाकर, कभी आत्मीय सी उलाहना देकर, कभी आर्तनाद सुनकर और कभी आघात से अवसन्न रह जाते हुए ये कविताएं अपने पाठक को उनके प्रति उन्मुख करती हैं। नागार्जुन की कविताएं इनसे कहीं कम विकराल स्थितियों को देख दुर्वासा हो उठती थीं, लेकिन तब युग दूसरा था। विश्व-स्तर पर इन स्थितियों में आग लगाने वाली ताकतें इतनी पस्त नहीं थीं, आज इन स्थितियों में आग का तसव्वुर यथार्थ के उतना करीब न होगा। प्रगतिशील कविता का पंचतत्व-विन्यास समकालीन कविता से अलग है तो यह सिर्फ कविता की बात नहीं है। अब तो नए सिरे से शुरू करना है। इसीलिए बात जमीन और जड़ों से शुरू हो रही है, लेकिन इससे आग की, आंच की, अलाव की ज़रूरत कम नहीं होती, बेशक उपयोग थोड़ा अलग होगा-

हमें तो

दो ही दिन

पर

चाहिए पूरी तरह

तपता सूरज

बहुत हो गया है

कीचड़

इसे सुखाना है

नया घर बनाना है। (सूरज)

बुझते हुए चूल्हों की दबी-घुटी आंच में मंद मंद पक रही खिचड़ी से उम्मीद है कि वह किले के दिन पूरे कर देगी... (खिचड़ी) ये भंगिमा समकालीन कविता की खास है जहाँ अदृश्यप्राय लघुरूपों में संगठित हो रहे प्रतिरोध पर कवि निगाह डालता है, उसे तवज्जो देता है। इसीलिए आग महज चूल्हों की दबी-घुटी आंच जितनी भी हो सकती है, दावानल, बडवानल या प्रेयरी फायर न भी सही। “खिचड़ी पकना” मुहावरा भी है- पीठ पीछे हो रही खामोश तैयारियों का अर्थ देने वाला। लेकिन इस सब्जर्जन के लिए भी आंच तो चाहिए ही। जाड़ा और रात दोनों काटने के लिए आदमी को किसी पुराने अलाव के पास जाने की सलाह “अलाव” शीर्षक कविता में दी गई है। “नया साल-2” शीर्षक कविता में पिछले सौ साल का कूड़ा जलाकर समूची धरती पर हल चलाने की इच्छा व्यक्त की गई है। आग के आत्मघाती इस्तेमाल से सावधान भी है कविता-

आग से हमें भी बहुत है

मोहब्बत

मगर
आग का इस्तेमाल
हम
पतंगों सा नहीं करते। (इस्तेमाल)

जमीन और जड़ों की तरह आग भी अकेला और आखीरी सरमाया है आदमी का, जो खुद उसे भी पकाती है-

मैं सुबह शाम चाय पीता हूँ

चाय
पानी-पत्ती-चीनी-दूध से बनती है

मुझे मिलती है साफ
न पानी
न पत्ती
न चीनी
न दूध

मेरे पास खालिस
बस एक ही चीज़ है
मेरी आग
जो पकाती है-

पानी भी
पत्ती भी
चीनी भी
दूध भी
और खुद मुझे भी (खालिस)

सो आग भी है इन कविताओं में, लेकिन थोड़ा रिज़र्व अंदाज़ में सुलगती सी। ये कविताएं जिस समय का मंज़र उपस्थित करती है वो समय ऐसा है जब आपकी पीठ दीवाल से सटी हुई है, जब आपको धारा के खिलाफ तैरना है, जो बिना असलियत पर उतरे संभव नहीं। इसीलिए उम्मीद की सारी ही कविताएँ यहाँ उमंग की कविताएं नहीं हैं। विपरीत और विकराल परिस्थितियों में सारी जान लगाकर उम्मीद पालने वाली कविताएं हैं ये। “पांव”, “रेखाएं”, “दृष्टि”, “रास्ता”, “जुगनू”, “पगडंडिया”, “पौ बारह”, “जिन्दगी”, “अभयारण्य”, “मजदूर दिवस” ऐसी ही कविताएं हैं। इनकी कई पंक्तियाँ सूक्तिमय हो उठती हैं-

पतझर का एकमात्र उपाय वसंत है
और वसंत का एक मात्र उपाय उत्सर्ग। (अभयारण्य)

लेकिन अप्सुर्दगी, कचोट और अवसाद भी कम नहीं इस संग्रह में। “अपशकुन”, “पृथ्वी”, “गुहार”, “पहाड़-2”, “इतना ही नहीं”, “आघात”, “मन बहुत उदास है”, “तुम्हारा जाना”, “पोखर”,

“आर्तनाद”, “खोह”, “इलाज”, “गौरैया”, “काश!” आदि कविताएं ऐसी हैं जहाँ जीवन-स्थितियों से टकराकर टूटता-बिखरता-हारता जीवन भी है। इन दोनों तरह की कविताओं से मिलकर बना है समकालीन स्थितियों और मनोदशाओं का वह द्वंद्व जिसके बीच ही तलाशनी है वह जमीन जिसकी जड़ों से ताकत लेकर उभारना है नया विकल्प, तैयार करना है नया प्रतिरोध, बनाना है नया घर। शुद्ध उल्लास की या बेदाग खुशी की भी दो-तीन कविताएं जरूर हैं इस संग्रह में, मसलन “पहाड़-5”, “बिजली” और “दिगिदगंत”। आश्चर्य है कि सांप्रदायिकता पर लिखी इस संग्रह की कविताएं वागवैदग्ध्य से आगे नहीं जातीं। कवि पूँजीवादी और सामंती सत्ता द्वारा जन-चेतना के शिक्षण-प्रशिक्षण की चालाक तरकीबों का पाखंड उजागर करना अपना दायित्व मानता है। ऐसा करके ये कविताएं जनचेतना के वैकल्पिक प्रशिक्षण का कार्यभार सम्पादित करती हैं। “पाठ” शीर्षक कविता गुरुओं से यह कहने का साहस करती है कि परीक्षाफल बच्चों के नहीं, उनके खिलाफ हैं -

*फिर से जाएं, स्यामपट पर
फिर सिखाएं घर बनाना
साथ-साथ यह भी बताइए कि
एकलव्य और अभिमन्यू के मूल हन्ता कौन थे?*

क्रिया-पदों के अभिप्राय

यह संग्रह छोटी-छोटी कविताओं से बना है। शब्द भी छोटे-छोटे हैं- अधिक देशज, तद्भव और कम संस्कृत, बहुत कम अंग्रेजी, ज्यादातर शब्द दो या तीन अक्षरों के हैं। संधि-समास की छटा विरले ही दिखती है, पंक्तियां भी छोटी-छोटी- ज्यादातर एक से लेकर सात-आठ शब्दों की- शायद हमारे आम समाज की तरह जहाँ अक्सरियत छोटे-छोटे लोगों की है जिनकी सामासिकता तार-तार होकर सिर्फ शासक जमात के नारों में बची हुई है। खास बात यह है कि इन्हीं छोटे-छोटे लोगों से बड़प्पन की उम्मीद लगाए बैठी हैं ये कविताएं। संज्ञाएं सब बड़े लोगों ने हथिया रखी हैं। छोटे लोगों के पास हैं सिर्फ क्रियाएँ। कवि शैलेय ने क्रिया-पदों से ही कविता के अभिप्राय निर्मित किए हैं। जो समझा रहे थे शहद सी मीठी वाणी में कि सुख-दुख में एक सा रहना चाहिए, जैसे कि सूरज जो उगते-डूबते एक सा लाल रहा करता है, उनसे किया गया सवाल विलक्षण है-

*फक्क हो गया उनका
चेहरा
ज्यों ही हमने पूछा
उगने और डूबने का फर्क। (फर्क)*

सूरज संज्ञा है, उगना और डूबना हैं क्रियाएं जो सूरज के होने मात्र से ज्यादा अर्थवान हैं। “नाप” कविता की आखिरी पंक्तियां हैं-

*उठना ही
बटन से बल्ब तक की दूरी है,
बिना उठे न बटन दबेगा, न होगी बल्ब में रौशनी।*

फिर भी यह कहे बिना रहा नहीं जाता कि हमारे समाज में वास्तविक संघर्षों, आंदोलनों के चित्र इतने कम भी नहीं कि क्रियाओं के रूपक हरदम रोजमर्रा के जीवन या फिर प्रकृति से ही लिए जाएं। लोग लड़ तो रहे ही हैं, चाहे उनके विचार उलझे हों या फिर संगठन कमजोर। ऐसे वास्तविक चित्र यदि कविता में आते हैं तो क्रियाएं ही नहीं, कर्ता भी दिखेंगे जरूर क्योंकि वे हैं, हमारे समय के अलक्षित नायक-कलिंगनगर, बिहार, उत्तराखंड, बंगाल हर कहीं। छोटे लोगों की भी संज्ञाएं होंगी-कविता उनकी शिनाख्त कर सकती है, उसे करना चाहिए। इस संदर्भ में अशोक भौमिक की हाल ही में “मेरी कविता-2” शीर्षक से प्रकाशित कविता का एक टुकड़ा उद्धृत करना ठीक होगा, जो उपरोक्त बात को ज्यादा सलीके से रखता है-

उनके नाम पर
कविताएँ
लिखती है-हरियाली,
पतझड़ और
बसंत

फिर भी,
अपना एक
समूचा नाम नहीं होता उनका
एक पता
भी नहीं मिल पाता उन्हें,
बगैर पंख के भी
“जयन्त” या “अमल”
या फिर कोई और
यकायक उड़ जाते हैं
कविता के
कठघरे को तोड़कर
-मरोड़कर...

चिड़ियों और कुछ
ऐसे लोगों में
महज,
पंख के होने या
न होने का ही
फर्क रहता है।
और, यह कविता नहीं है! (समावर्तन मासिक, वर्ष 1, अंक 5, अगस्त, 2008)

जाहिर है कि वास्तविक जीवन-संघर्षों के नायक, कविता के भी नायक बन सकें, ऐसा समकालीन कविता के व्याकरण को तोड़कर ही संभव होगा।

समकालीन कविता की लय पंक्तियों को तोड़ने से बनी है, जोड़ने से नहीं, लेकिन इन कविताओं को

रचने वाले की पकड़ उस लय से भी नहीं छूटी है जिसका संबंध तुक और ताल से हुआ करता था, ज़रूरत के मुताबिक वह भी चली आई है कहीं-कहीं-

अब देखो न,
अकाल पर बातें हुई तो
देशभर के अघाते गोदाम याद आए
बाढ़ पर बातें हुई तो
चील से उड़ते जहाज याद आए
युद्ध पर बातें हुई तो
मौत पर भी मुस्कराते प्यार याद आए। (विचार)

कविता और कवि की समाज में ज़रूरत

समकालीन कविता का प्रायः कोई भी संग्रह ऐसा नहीं होता जिसमें कविता और कवि की समाज में ज़रूरत पर कविताएं न हों। यहाँ कवि बहुधा खुद का आत्मसजग मूल्यांकन करते हैं। क्रोध और घृणा का स्वर इन संग्रह की कविताओं में कम ही उभरा है, लेकिन जनकवि मान बहादुर सिंह की हत्या का खौफनाक दृश्य खींचने के बाद कवि एक क्रुद्ध ललकार के स्वर में कहता है-

कविताएं
किसके लिए लिखी जा रही हैं?

जो घृणा थूकी नहीं जाती समय पर
उसी में एक दिन सनी होगी जीभ। (उसी में एक दिन)

कविता कवि के लिए एक असमाप्य कार्यभार है। कविता में बहुत कुछ होना था, लेकिन वो समाज के हाशिए पर ही अटक गई है। कवि लेकिन हार नहीं मानता, गर्व से कहता है-

मैं
कविता की विरासत सँभाले हुए हूँ। (विरासत)

सचमुच यह विरासत उसने सँभालने का बहुत जतन किया है। निराला और शमशेर जैसे पुरखे ज़रूर उसकी कविता के पीछे हैं, अन्यथा कैसे आ जाती उसकी कविता में एक माँ सर्जरी तक, “विहँसती” हुई। संग्रह की अंतिम कविता है “कवि” जिसमें संग्रह की मूल प्रतिज्ञा दोहराई गई है-

घाघ बताते थे कि
मिट्टी से जिसने भी रिश्ता रखा
फिर सातों आसमान
चाहे जितने गहरे हों
वह
कहीं दूब-कहीं धूप बनकर ही निकला

किन्तु
इस गहन यात्रा का शुभारम्भ तो
अपनी ही मिट्टी खोदने से होता है
और
यह क्रदम जन्मना कवि ही उठाते हैं

संग्रह की अंतिम पंक्तियां हैं -

दुनिया की
आखिरी संभावना कवि है।

इस वक्तव्य की आस्था को तो सलाम पर काश! इस पर विश्वास भी जम पाता।

यह संग्रह पारदर्शी और संवादधर्मी है। कविता में ऐसी सरलता कठिनाई से सधती है। समीक्षा तो ऐसी कविताओं की संगत ही कर सकती है।

‘या’, शैलेय का पहला कविता संग्रह है। इसे अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद ने 2008में ही प्रकाशित किया है। शैलेय का जन्म 6 जून 1966 को रानीखेत के जैंती ग्राम में हुआ। शैलेय राजनैतिक कार्यकर्ता, यायावर और पत्रकार रहे हैं। अब अध्यापन शुरू किया है। लंबे समय तक कुछ रोगियों के बीच कार्य। श्रमिक आंदोलनों में भागीदारी और उत्तराखंड आंदोलन के दौरान जेल यात्रा। शैलेय की कुछ कविताएं दो वर्ष पहले ‘पहल’ ने छापी थीं। उनके कविता संग्रह का ब्लर्ब वीरेन डंगवाल ने लिखा है और ‘या’ का मुख पृष्ठ सुप्रसिद्ध वामपंथी चित्रकार अशोक भौमिक ने तैयार किया है।

तैतालिस वर्षीय प्रणय कृष्ण जे एन यू के मेघावी छात्र रहे हैं। वहां आइसा के स्थापकों में प्रमुख और छात्र संघ के लोकप्रिय अध्यक्ष भी रहे। अभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्यापन। उनका विषय हिन्दी साहित्य और औपनिवेशिक चिंतन रहा है। अज्ञेय पर उनकी एक पुस्तक आधार प्रकाशन ने छापी है और दूसरी आलोचनात्मक कृति लोक भारती से शीघ्र प्रकाश्य। प्रणय कृष्ण पहल के आगामी अंकों में भी संभावित हैं।